नीच और दलितों को अपनाने वाले—गुरु नानक

गुरु नानक के संबंध में एक बहुत मशहूर किस्सा यह है कि जब वे हरिद्वार में हरि की पौड़ी पर स्नान करने गये तो उन्होंने देखा कि अनेक व्यक्ति पूर्व की तरफ मुँह करके सूर्य को जल चढ़ा रहे हैं। यह देखकर नानक जी ने अपना मुँह पश्चिम की तरफ कर लिया और उसी तरफ लोटा में जल भरकर डालने लगे। लोगों ने समझा कि यह साधु दिशा का ज्ञान न होने से उल्टी तरफ जल दे रहा है, इसलिए कहने लगे—"साधु बाबा ! पूर्व तो इधर है, आप पश्चिम में जल क्यों दे रहे हैं ?" नानक जी ने पूछा—"आप लोग पूर्व में जल क्यों देते हैं ?" किसी ने बतलाया कि हम तो सूर्य भगवान् तथा अपने पितरों को जल दे रहे हैं। नानक बोले—"मेरा गाँव पश्चिम की तरफ है और वहीं पर मेरे खेत हैं। इसलिए मैं इसी तरफ मुँह करके अपने खेतों में जल दे रहा हूँ।" लोग उनकी नासमझी पर हँसने लगे कि "वाह ! इतनी दूर से आप अपने खेतों को सींचना चाहते हैं !" नानक बोले—"भाइयों अगर आप का दिया हुआ जल आकाश में करोड़ों मील दूर स्थित सूर्य और पितृ-लोक तक पहुँच सकता है तो मैं आशा करता हूँ कि मेरा दिया हुआ जल भी मेरे खेतों में पहुँच जायेगा। क्योंकि वे तो यहाँ से दो सौ कोस से भी कम हैं।" सूर्य को जल देने वालों को अपनी गलती कुछ अनुभव तो हुई, पर परंपरा को इतने सहज में कौन तोड़ सकता है ?

दूसरी घटना लोग यह बतलाते हैं कि जब गुरु नानक पश्चिमी देशों की सैर करते-करते मक्का जा पहुँचे तो रात के समय एक मसजिद में सो गये। जानकर या अनजान में उनके पैर उस दिशा में हो गये जिधर मुसलमानों का पवित्र काबा था। यह देखकर किसी मुल्ला ने उनको डाँटकर कहा—"तू तो बड़ा काफिर जान पड़ता है, जो खुदा की तरफ पैर करके सो रहा है।" नानक जी ने बड़ी नम्रता

से कहा—"मुल्ला साहब ! मैं परदेशी, बुड्ढा आदमी हूँ, इसलिए दिशा का ज्ञान न होने से ऐसी भूल कर बैठा। अब आप ही मेहरबानी करके मेरे पैरों को उस दिशा में कर दें जिधर खुदा का घर न हो।" नानक के इन मर्म वचनों को सुनकर मुल्ला बड़े चक्कर में पड़ गया, क्योंकि संसार में कौन-सी दिशा और स्थान ऐसा है, जहाँ ईश्वर न हो। वह सिर नीचा करके वहाँ से चला गया।"

ये दोनों घटनायें बतलाती हैं कि नानक उन पहुँचे हुए संतों में से थे जो केवल सत्य के सम्मुख ही नतमस्तक होते हैं। उन्होंने धर्म और परमात्मा के वास्तविक तत्त्व को समझ लिया था और वे किसी भी प्रकार के अंधविश्वास को स्वीकार करने को तैयार न थे। यद्यपि वे हिंदू परिवार में उत्पन्न हुए थे और आजन्म घर से उनका संबंध बना रहा, पर वे बहुत खुले विचारों के थे। उनको हिंदुओं और मुसलमानों में जो दोष दिखाई दिये, उनका निर्भयतापूर्वक वर्णन किया। वे बहुसंख्यक देवी-देवताओं को मानना लाभदायक नहीं मानते थे, वरन् वेद के 'एकोऽहम् बहुस्यामि' सिद्धांत के मानने वाले थे। उन्होंने इस संबंध में कहा है—

एक दू जीभऊ लख होय, लख होय लख बीस।
लख लख गेड़ा आखियै एक नाम जगदीस।।

अर्थात्—"वह एक ही भगवान् एक से दो हो जाता है, दो से लाख, लाख से बीस लाख और फिर अरबों और खरबों हो जाता है। पर अंत में एक जगदीश ही सत्य है।"

मक्का की यात्रा के समय जब मुसलमानों ने उनसे भगवान् के स्वरूप के संबंध में प्रश्न किया तब भी उन्होंने ऐसा ही उत्तर दिया—

अव्वल अल्ला नूर उपाया कुदरत दे सब बंदे।
एक नूर ते सब जग उपजे कौन भले को मंदे।।

अर्थात्—"सबसे पहले परमात्मा ने एक प्रकाश उत्पन्न किया और फिर उसी प्रकाश से संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हुए ! इस दृष्टि से सब कोई एक ही परमात्मा के बंदे हैं, उनमें किसी को छोटा-बड़ा कहना व्यर्थ है।"

साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि भगवान् का पूरा रहस्य तो वह स्वयं ही जानता है। दूसरा कोई उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता—

तुमरी उस्तुति तुमते होई।
नानक अवर न जानसि कोई।।

जन्म और बाल्यकाल

गुरु नानक का जन्म लाहौर के पास तलवंडी गाँव में सन् १४६९ में हुआ था। उनके पिता कालूराम पटवारी एक सामान्य गृहस्थ थे और सरकारी कार्य के सिवाय कुछ खेती-बाड़ी भी करते थे। नानक के जन्म और बाल्यकाल की कई चमत्कारी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। जैसे गर्भ से बाहर आते ही वे अन्य बालकों की तरह रोने के बजाय हँसने लगे थे और जंगल में सोते हुए एक सर्प ने उनको धूप से बचाने के लिए अपना फन फैलाकर छाया कर दी थी। हम इन बातों को अधिक महत्त्व नहीं देते, क्योंकि हमारी दृष्टि में इन चमत्कारों की अपेक्षा वे सिद्धांत कहीं उच्च हैं, जिनका प्रचार उन्होंने अपने जीवन-काल में किया और करोड़ों व्यक्तियों को एक ऊँचा और व्यावहारिक जीवन-मार्ग दिखाया।

कुछ भी हो, नानक जी की जीवन-साखियों के आधार पर उनका जो वृतांत ज्ञात होता है, उससे यही जान पड़ता है कि वे एक विशेष संस्कारी व्यक्ति थे, जिनको अन्य बालकों के समान खेलने-कूदने का शौक न होकर भगवान् तथा आध्यात्मिक विषयों की ही अधिक रुचि थी। श्रीरामकृष्ण परमहंस की तरह वे पढ़े-लिखे तो बहुत सामान्य ही थे, पर उनका आंतरिक ज्ञान छोटी अवस्था से ही प्रकट होने लग गया था। जब एक पंडित ने उनको अक्षराभ्यास आरंभ कराया, तभी उन्होंने कहा कि ये 'क' 'ख' 'ग' आदि केवल अक्षर नहीं है, वरन् इनमें परमात्मा की एकता तथा उसके स्वरूप का रहस्य समाया हुआ है। इसी प्रकार जब किसी मौलवी ने फारसी, अरबी पढ़ाने की चेष्टा की और इस्लाम की खूबियाँ समझाई, तब उनको भी ऐसा ही उत्तर दिया। वास्तव में उनका ध्यान पुस्तकों की तरफ बहुत कम जाता था, अधिकांश में वे भजन चिंतन, ध्यान की

तरफ ही आकृष्ट रहते थे। उसी छोटी आयु में चाहे जब पास वाले जंगल में चले जाते और वहाँ के एकांत वातावरण में प्रभु का ध्यान करते रहते। कहा जाता है कि उस जंगल में कभी-कभी उनकी भेंट ऐसे महात्माओं से हो जाती थी, जो उनको आध्यात्मिक रहस्य समझाते थे और इस मार्ग में आगे बढ़ने का उपदेश देते थे।

जब ये नौ वर्ष के हो गये तो पिता ने एक पंडित को बुलाकर कुल की परंपरा के अनुसार इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया। उस समय जनेऊ धारण करते समय उन्होंने पंडित से जो कुछ कहा उसका सारांश "आसा दी वार" पुस्तक में इस प्रकार दिया है—

दया कपाह संतोष सूत, जत गंढी सत बट्ट,
एह जनेऊ जीय का, है ताँ पांडे धत्त।
न एह टूटे न मल लग्गे, न एह जले न जाई,
धन्य सु माणस नानक, जो गल चल्ले पाई।।

अर्थात्—"दया को कपास बनाकर संतोष रूपी सूत काते, उस सूत को सत्य रूपी लपेट चढ़ाकर संयम से संस्कार कर उसे पहने। पंडित जी ! मैं तो ऐसा जनेऊ पहिनना चाहता हूँ, जो न टूटे, न मैला हो, न जले, न अन्य प्रकार से नष्ट हो, जिसने इस रहस्य को जान लिया है, वही इस संसार में धन्य है।"

जब नानक जी का भजन-भाव बहुत बढ़ गया, यहाँ तक कि उनको प्रायः खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रहता था, तब उनके माता-पिता को चिंता हुई। उन्होंने समझा कि पुत्र को कोई रोग हो गया है। इसलिए उन्होंने एक वैद्य से इनकी परीक्षा करके दवा देने को कहा। वैद्य जब नाड़ी देखने लगा तो नानक जी ने इस आशय का वचन कहा—

वैद बुलाया वैदगी पकड़ ढंढोले बाँह।
भोला वैद न जानइ, करक कलेजे माँह।।

अर्थात्—"मेरा इलाज करने के लिए वैद्य बुलाया है और वह हाथ पकड़कर जाँच कर रहा है, पर भोला वैद्य यह नहीं जानता कि पीड़ा तो हृदय में है।

गुरु नानक का सच्चा दृष्टिकोण—

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही इनमें सत्य, अहिंसा, संयम आदि सद्‌गुण भरपूर मात्रा में पाये जाते थे और सांसारिक प्रपंचों से बहुत दूर रहते थे। पर साथ ही इनकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि अन्य "साधु महात्माओं" की तरह न तो इन्होंने संसार को छोड़ा और न उसकी निंदा की। वर्तमान भारतीय समाज में "बड़े महात्मा" का लक्षण यही समझ लिया गया है कि घर-गृहस्थी को त्याग कर समाज से दूर वन या पर्वत में जा बैठे और संसार से कोई मतलब न रखे। पर यह विचार किसी प्रकार प्रशंसनीय या अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। मनुष्य को जो कुछ गुण या शक्ति प्राप्त होती है, उसका श्रेय मुख्यतः समाज को ही होता है। बिना समाज की सहायता तथा सहयोग के न तो कोई जीवित रह सकता है, न ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अगर मनुष्य शास्त्रों और ग्रंथों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वे भी समाज की देन हैं और यदि विद्वान् तथा ज्ञानियों के सत्संग से उन्नति करता है तो वे भी समाज के ही अंग हैं। इसलिए किसी प्रकार की सामर्थ्य या शक्ति प्राप्त करके एकांत में जा बैठना और उसका उपयोग समाज के हित के लिए न करना स्पष्टतः अपने कर्तव्यपालन से विमुख होना ही है। नानक जी ने अपनी वाणियों में इस तथ्य को अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है—

जोग न खिंथा जोग न डंडे जोग न भसम चढ़ाइये।
जोग न मुँदी मुंड़ मुड़ाइये जोग न सिंगी वाइये।।
अंजन माहि निरंजन रहीये जोग जुगति तउ पाइये।

अर्थात्—"भगवा कपड़ा पहिन लेने, दंड धारण कर लेने, भस्म लपेट लेने, मूँड़ मुड़ा लेने, शंख बजाने से योग नहीं हो सकता। ये सब योग के बाह्य उपकरण हैं। सच्चा योग तो वह है जब मनुष्य माया के संपर्क में रहकर भी उससे अलग—अप्रभावित रह सके।" घर-बार छोड़ के सुनसान वन में जा बैठने से योगी की निर्लिप्तता का कोई प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि जब किसी प्रकार की प्रलोभन की सामग्री ही सम्मुख न हो तब त्यागी और संयमी रह सकने का अधिक महत्त्व नहीं माना जा सकता।

इस संबंध में परमहंस देव श्री रामकृष्ण का उदाहरण बड़ा प्रभावशाली है। जब वे २३ वर्ष के थे तब माता-पिता के कहने से उन्होंने एक छोटी कन्या से विवाह कर लिया। बाल्यावस्था में वह प्रायः अपने माता-पिता के यहाँ ही रहती थी। पर जब वह १८ वर्ष की हुई और उन्होंने अनेक लोगों को यह कहते सुना कि रामकृष्ण तो पागल हो गए हैं तो वह घर से कलकत्ता चली आईं और परमहंस जी के साथ दक्षिणेश्वर के बगीचे में ही रहने लगी। वह पत्नी की तरह उनके साथ ही सोती थी, पर परमहंस देव के मन में एक दिन भी काम विकार उत्पन्न न हुआ। परमहंस देव का स्वर्गवास हो जाने पर जब कुछ शिष्य उनका अनुकरण करने की चर्चा कर रहे थे तो स्वामी विवेकानंद ने उनसे कहा—"तुम गुरुजी का अनुकरण क्या कर सकोगे ?" न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी। अरे ऐसा कौन है, जो नवयुवती पत्नी के साथ वर्षों तक एक शैया पर शयन करता रहे और फिर भी काम विकार से बचा रहे। यह सांसारिक मनोवृत्ति रखने वाले साधकों के बस की बात नहीं है।"

यही बात गुरु नानक की नारी संबंधी उक्तियों से प्रकट होती है। भारतीय संतों में से अधिकांश ने नारी की निंदा ही की है और उसको परमार्थ का विरोधी और नरक का द्वार बतलाया है। कबीर जैसे स्वतंत्र चिंतक ने भी "कामिनि काली नागिनी तीनों लोक मँझारि", कहकर उसे सर्पिणी के समान बतलाया है। यह भी कहा है कि "नारी सेती नेह, बुधि विवेक सब ही हरे" अर्थात् नारी का संपर्क बुद्धि-विवेक को नष्ट करने वाला है। गोस्वामी तुलसीदास जैसे महान् भक्त ने भी कहा है—

सुन मुनि कह पुराण श्रुति संता।
मोह विपिन कह नारि बसंता।।
जप तप नेम जलाश्रय झारी।
होई ग्रीषम सोखइ सब वारी।।

इस प्रकार उन्होंने स्त्री को पुरुष के धर्म-कर्म, आध्यात्मिक साधन को नष्ट करने वाली बतलाया है। मध्यकाल की यह विपरीत परंपरा अभी तक चली आ रही है और अधिकांश "साधु-संत"

कहलाने वाले स्त्री को संसार का बंधन बतलाकर अपमानित और लांछित ही करते रहते हैं।

उस घोर नारी-निंदक युग में रहते हुए भी गुरु नानक ने नारी के संबंध में इस प्रकार की बात कभी नहीं कही, वरन् जगह-जगह उसके महत्त्व को ही स्वीकार किया है—

"सौ किउँ मंदा आखीऐ जिस जम्मे राजान।"

अर्थात्—"उस नारी को किसलिए बुरा कहा जा सकता है जो बड़े-बड़े राजाओं (महान् पुरुषों) को जन्म देती है।" आगे चलकर भी उन्होंने "मिष्ट-भाषिणी" सदैव पति का ध्यान रखने वाली, विनम्रता-पूर्वक व्यवहार करने वाली सुहागिन स्त्री को धन्य बतलाया है। उन्होंने कहीं भी "योग और वैराग्य" के नाम पर स्त्री-पुरुषों को गृहस्थ धर्म छोड़ने का उपदेश नहीं दिया, वरन् प्रत्येक व्यक्ति को कर्म-वीर और उद्योगी बनने की प्रेरणा दी है। उन्होंने कहा है कि आदर्श व्यक्ति वही है, जो परिश्रम करके धन-उपार्जन करता है और फिर उसे जरूरतमंदों की सहायता में खर्च करता है—

घाल खाय किछु हत्थहुँ देहि।
नानक राह पिछातहि सेई।।

इसलिए अठारह वर्ष की आयु में जब परिवार वालों ने आग्रह किया तो उन्होंने विवाह कर लिया। पर फिर भी उनका आध्यात्मिक जीवन ज्यों की त्यों रहा। वे प्रायः कई-कई दिन तक साधु-संतों की संगत में रहकर घर भी नहीं जाते थे। इससे उनकी पत्नी को दुःख होता था। यह देखकर एक दिन उनकी बड़ी बहिन नानकी ने उनको बड़े प्रेम से समझाया कि "भाई, अब तुम घर-गृहस्थी वाले हो गये हो, इससे तुम्हें अब घर पर ही रहना चाहिए और वंश की वृद्धि करके बहू को संतोष देना चाहिए। नानक जी इस बात को मानकर घर पर रहने लगे और कुछ वर्षों में उनके दो पुत्र—श्री चंद्र और लक्ष्मी चंद्र हुए। इनमें से श्री चंद्र ने सिख-धर्म के "उदासी" संप्रदाय की स्थापना की और लक्ष्मी चंद्र ने घर की व्यवस्था को सँभालकर समृद्धि को बढ़ाया। अपने पिता के मरने पर नानक जी ने पूर्वजों की सब संपत्ति दोनों पुत्रों में बाँट दी और स्वयं सांसारिक प्रपंच से दूर ही बने रहे।

यही बात और भी संतों के संबंध में देखने में आती है। तुकाराम ने पिता की सब संपत्ति किसी न किसी प्रकार दूसरों को दे डाली, जिससे उन्हें बहुत वर्षों तक आर्थिक कष्ट और कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं। अन्य महापुरुषों के संबंध में भी प्रायः यही देखने में आता है कि उनको जब कोई व्यापार-व्यवसाय करना पड़ा तो उसमें असफलता ही मिली। वास्तव में ऐसे लोगों का लक्ष्य संसारी लोगों से भिन्न ही रहता है, इसलिए या तो और लोग उनको ठग लेते हैं या वे स्वयं ठगे जाते हैं। इसलिए नानक के पिता ने उनको जिस किसी काम में लगाना चाहा, उसी में कोई न कोई अड़चन उपस्थित हो गई। जब उसने उनको खेत की रखवाली करने को कहा तो उन्होंने स्वयं ही यह कहकर पक्षियों को खाने के लिए बुला लिया—

राम दी चिड़िया राम दा खेत।
छक्को चिड़ियों भर-भर पेट।।

बात तो सच्ची थी और यही सच्चे, प्राकृतिक साम्यवाद का सिद्धांत है। प्रकृति ने संसार में जो कुछ उत्पन्न किया है। वह बिना किसी भेदभाव के सब प्राणियों के उपयोग के लिए ही है। पर इस सीधी-साधी सच्चाई को मनुष्य स्वीकार कब करता है ? वह तो प्रत्येक स्थान में दीवारें खड़ी करता, फाटक लगाता और ताला बंद करता है। इसलिए अगर देखने वालों को उनका यह कार्य मूर्खतापूर्ण जान पड़ा हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

अतएव पिता ने उन्हें खेतों पर जाने से मना कर दिया। कुछ समय बाद कुछ रुपया देकर व्यापार करने को भेजा तो उन्होंने सब रुपया भूखे लोगों को खिला दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में सबसे लाभदायक व्यापार यही था ! पर पिता तो इस मूर्खता पर इतना रुष्ट हुए कि उन्होंने नानक जी की अच्छी तरह पिटाई की। यह देखकर बहिन नानकी ने उनका भार अपने ऊपर लिया और अपनी ससुराल ले जाकर स्थानीय नवाब के मोदी-खाने में नौकर करा दिया।

पर वहाँ भी नानक जी का निराला स्वभाव कायम रहा। वे दीन-दुःखी और साधु-संतों की सहायता के लिए सदा प्रस्तुत रहते थे और उनके घर पर सदावर्त-सा लगा रहता था। यह देखकर कुछ

लोगों ने नवाब को सूचित किया कि नानक मोदीखाने को लुटाये दे रहा है। पर जब किसी अधिकारी द्वारा जाँच की गई तब सौभाग्य से या दैवी कृपा से हिसाब ठीक निकला। इस पर नवाब कुछ शर्मिंदा हुआ और नानक जी से नौकरी करने को कहता रहा। पर अब इन्होंने सांसारिक झंझट मोल लेना व्यर्थ समझा और गृह त्यागकर भटकती हुई मानवता को सत्यमार्ग का संदेश देने को निकल पड़े।

गुरु नानक की जीवनी का यह अंश महाराष्ट्र के महान् संत तुकाराम से बिल्कुल मिलता हुआ है। उन्होंने संसार में जितने व्यापार किए, सबमें अपनी परोपकारी मनोवृत्ति के कारण घाटा ही उठाना पड़ा। उनके घर में लेन-देन का कार्य होता था। लेने को तो सब तैयार थे, पर चुकाने को कोई न था। इसलिए अंत में उनका दिवाला ही निकल गया। और भी छोटे-मोटे अनेक रोजगार किये पर सब जगह कोई न कोई सहायता माँगने वाला आ पहुँचा और उनकी समस्त जमा पूँजी परोपकार में ही लगती चली गई। तुकाराम के माता-पिता तो छोटी अवस्था में ही गुजर गये थे, पर उनकी पत्नी जोरदार स्वभाव की थी और वह ऐसे कार्यों के लिए डाटती-डपटती थी। पर वे अपना 'सुधार' न कर सके। अंत में उन्होंने कर्जदारों द्वारा लिखे सब सक्के-पुर्जे और हिसाब-किताब के कागज नदी में बहा दिये और सदा के लिए रोजगार धंधे से छुट्टी पा ली।

गुरु नानक का भारत-भ्रमण—

नानक जी लगभग तीस वर्ष की आयु में सांसारिक-बंधन से मुक्त होकर भटकती हुई मानवता को सत्य-मार्ग का उपदेश देने निकल पड़े। उनका साथ दिया मरदाना नामक एक मुसलमान मीरासी ने जो उनके भजन गाते समय 'रबाब' बजाता था। इन दोनों से मिलकर ऐसा समा बँध जाता था कि राह चलते भी मुग्ध होकर सुनने लग जाते थे। एक तो हृदय से निकलते हुए सच्चे उपदेश और वे भी ऐसे आकर्षक रूप में रचे गये, बस नानक जी जहाँ गये वहीं बहुसंख्यक व्यक्ति उनके भक्त और अनुयायी बनते चले गये। नानक जी का वैराग्य दुनिया दिखाने का न था कि जटा, तिलक, माला आदि लगाकर किसी मंदिर में बैठ जाते या किसी गुफा में बैठकर

योगाभ्यास करने लगते। वे साधु हो जाने पर भी जन-समाज में ही रहे और उनके सुख-दुःख में भाग लेकर उनका-सा ही जीवन बिताते रहे। वे जानते थे कि बहुत-सा बाह्य आडंबर बनाकर "बड़े महात्मा" या "सिद्ध" के नाम से प्रसिद्ध हो जायें तो उससे कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा। सामान्य जनता चाहे उनको बहुत "ऊँचा" अथवा "अलौकिक" समझने लगे, पर तो भी वह उनका अनुकरण करने को तैयार नहीं हो सकती। इसके बजाय जब मनुष्य सब लोगों के साथ मिल-जुलकर रहता है तो लोग धीरे-धीरे उसके जीवन से स्वयं ही सच्चाई की शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं और उसके उपदेशों पर अमल करने को भी तैयार हो जाते हैं।

गुरु नानक ने देश और विदेशों की जितनी व्यापक यात्राएँ की थी। उतनी अन्य किसी संत ने नहीं की। उन्होंने ५५ वर्ष तक भारतवर्ष की चारों दिशाओं में सभी प्रमुख स्थानों की यात्राएँ की और अंत में अफगानिस्तान, ईरान अरब और इराक तक हो आये। इससे उनको भारतीय समाज की गहरी जानकारी पैदा हो गई और जिन देशों के आक्रमण भारत पर हो रहे थे, उनकी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति को भी उन्होंने समझ लिया। इसी अनुभव के आधार पर वे सिख-समुदाय का ऐसा संगठन कर सके, जो समयानुकूल था। हिंदुओं में घुसे हुये जिन दोषों ने समाज को अस्त-व्यस्त और निर्बल बना रखा था, जैसे अछूत प्रथा, हजारों प्रकार की जातियाँ, हजारों ही प्रकार के देवी-देवता, दान के नाम पर निकम्मे लोगों का पालन, अनगिनती हानिकारक रस्म-रिवाजें तथा रूढ़ियाँ परस्पर विरोधी धर्मग्रंथों, संप्रदाओं तथा पूजा-उपासना पद्धतियों की भरमार आदि इन सबको उन्होंने दूर हटा दिया। साथ ही एकेश्वरवाद को इतने स्पष्ट रूप में अपनाया कि कुछ लोगों को इस्लाम में जो विशेषता जान पड़ती थी उसकी भी पूर्ति हो गई।

इस प्रकार गुरु नानक ने एक ऐसे सुसंगठित, सुदृढ़ और परस्पर में समता तथा भाईचारे का भाव रखने वाले पंथ की नींव डाली जिसने हिंदू समाज के सम्मुख उद्धार का प्रभावशाली उदाहरण उपस्थित कर दिया। उन्होंने स्वयं इन सब सिद्धांतों का पालन किया और अपने संगठन के सब नियम इतने सरल और सर्वोपयोगी बनाये

कि उनका अनुसरण कर सकना किसी के लिए कठिन न जान पड़े। आगे चलकर जब मुसलमानों का दौरात्म्य बढ़ा और औरंगजेब ने विशेष रूप से हिंदु-धर्म को ध्वस्त करके इस्लाम को सर्वव्यापी बनाने की चेष्टा की तो दशम गुरु गोविंद सिंह जी ने उसे सैनिक-समुदाय के रूप में परिवर्तित कर दिया और उसने इस्लाम की बढ़ती हुई सर्वग्रासी लहर को रोकने में एक बहुत मजबूत बाँध का काम किया। इसका बीज नानक देव ही संगठन करके बो गये थे।

गुरु नानक की देशभक्ति और राजनीतिज्ञता—

वैसे सामान्य दृष्टि से नानक देव एक ईश्वरप्रेमी और भक्ति-मार्ग के पथिक थे। उनके रचे हुए अधिकांश भजन और वाणियाँ भगवान् की महानता को प्रकट करने वाली स्तुति और प्रार्थना के रूप में है। पर जब हम उन पर सूक्ष्म भाव से विचार करते हैं तो उनमें तथा मध्यकाल के अन्य भक्त कवियों में एक बड़ा अंतर पाते हैं। जहाँ उन सब कवियों की रचनाओं में हद दर्जे की हीनता, आत्म तिरस्कार और अपने इष्ट देव की कृपादृष्टि प्राप्त करने का ही भाव प्रकट होता है, वहाँ नानक जी ने अवसर मिलने पर ऐसी रचनायें भी की हैं, जिनसे देश तथा समाज को तत्कालीन समस्याओं के प्रति उनकी जागरुकता प्रकट होती है। "नानक जयंती" पर डॉ० महीप सिंह ने उनकी रचनाओं की जो जाँच-पड़ताल की—उससे विदित होता है कि वे केवल अध्यात्म-जगत् अथवा बैकुंठ में बैठकर आत्म-सुख की अभिलाषा रखने वाले संत नहीं थे, वरन् अपने समाज की त्रुटियों और दोषों के एक निर्भीक और प्रबल समीक्षक थे। उस समय इस देश के हिंदू राजाओं में हद दर्जे की भोग-लिप्सा तथा मातृभूमि के प्रति अकर्मण्यता का भाव आ गया था। विदेशियों और विधर्मियों का प्रतिरोध करने के बजाय वे अपनी स्वार्थ पूर्ति और रंगरेलियों में लगे रहते थे। यह देखकर गुरु नानक ने उनको बड़े रोषपूर्वक फटकारा।

राजा सिंह मुकद्दम कुत्ते-जाइ जगाई बैठे सुत्ते।
चाकर नहंदा पाईन्ह घाउ-रत पितु कुतिहां चटि जाहु।
जिथै जींआ होसी सार-नकी बड़ी लाइन बार।।

अर्थात् "वर्तमान समय के राजा शेर-चीतों की तरह हिंसक हैं और उनके अधिकारी कुत्तों की तरह लालची हैं और निर्दोष जनता को अकारण ही पीड़ित करते रहते हैं। राजकर्मचारी अपने नाखूनों से जनता को घायल करते रहते हैं और उसका खून कुत्तों की तरह ही चाट जाते हैं। परलोक में जब इनकी जाँच की जायेगी तो इनकी नाक काटी जायेगी।"

जब नानक जी विदेश यात्रा से लौटकर आये तो उसके कुछ ही समय पश्चात् भारत पर मुगलों का आक्रमण हुआ। बाबर के सैनिकों ने चारों तरफ तबाही पैदा कर दी और लोगों के धन, मान तथा इज्जत को मिट्टी में मिला दिया। उस भयंकर काल में भारतीय नारियों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

जिन सिरि सोहनि पाटियाँ माँगी पाई संधूर।
से सिर काती मुनीअन्हि गल बिच आवे धूड़ि।।
महला अंदरि होदीआ हुणि वहणिन मिलन्ह हदूरि।।१
जदहु सीआ बिआहीआ लाड़े सोहनि पासि।
हीडोली चढ़ि आईआ दंद खंड दीदे रासि।
उपरहु पाणी बीरिऐ झले झपकनि पासि।।२
इक लखु लहन्हि बहिठीआ लखु लहन्हि खड़ी आ।
गरी छुहारे खाँदीआ माणन्हि से जडीआ।
तिन्ह गलि सिलका पाईया तुरीन्ह मोत सरी आ।।३
धनु जोवनु दुइ वैरी होए जिन्ही रखे रंगु लाइ।
दूता नो फुरमाइया लै चले पति गवाई।।

अर्थात् "जिन स्त्रियों के सिर में सुंदर पट्टियाँ शोभित होती थीं, जिनकी माँग में सिंदूर भरा हुआ था, अत्याचारियों ने उनके केश काट डाले और उन्हें भूमि पर इस तरह घसीटा कि गले तक धूल भर गई। जो महलों में निवास करती थीं, उनको अब बाहर बैठने को भी जगह नहीं मिलती। विवाहित स्त्रियाँ जो अपने पतियों के पास सुशोभित थीं, जो पालकियों में बैठकर आई थीं, जिन पर जल न्यौछावर करते थे, जड़ाबदार पंखों से हवा करते थे, जिन पर लाखों

रुपये लुटाये जाते थे, जो मेवा मिठाई खाती थीं, सेजों पर सुख भोगती थीं, अब अत्याचारी उनको गले में रस्सी डालकर खींच रहे हैं और उनके गले की मोतियों की मालाएँ टूट गई हैं। अभी तक धन और यौवन ने उन्हें अपने रंग में रंग रखा था, अब वह दोनों उनके बैरी हो गये। सिपाहियों को आज्ञा मिली और वे उनकी इज्जत को लूटकर चले गए।"

अपने देश के संपन्न वर्ग की उस कठिन समय में कैसी दुर्गति हुई, उसकी एक झलक इस कविता में मिलती है। जब मनुष्य इस प्रकार विवश हो जाता है और अत्याचार का कुछ प्रतिकार नहीं कर सकता तो वह भगवान् को उलाहना देने लगता है कि तुम कैसे न्यायकारी और करुणासिंधु हो जो संसार में ऐसा अंधेरखाता मचवा रहे हो। इस भाव से प्रेरित होकर नानक जी ने लिखा—

खुरासान खसमान कीआ हिंदुस्तानु डराइआ।
आपै दोसु न देई करता जमु का मुगल चढ़ाइआ।
एती मार पई कर लणे तैं की दरदु न आइआ।
करता तू समना का सोई।
जो सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई।
सकता सीहू मारे पै वर्ग खसमै सा पुरसाई।।

अर्थात् "हे भगवान् ! बाबर ने खुरासान को बर्बाद किया, पर तुमने उसकी रक्षा न की और अब हिंदुस्तान को भी उसके आक्रमण से भयभीत कर दिया है। तुम स्वयं ही ऐसी घटनाएँ कराते हो, परंतु तुमको कोई दोष न दे इसलिए तुमने मुगलों को यमदूत बनाकर यहाँ भेज दिया। सर्वत्र इतनी अधिक मार-काट हो रही है कि लोग त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं। पर तुम्हारे मन में इन निरीह लोगों के प्रति तनिक भी दर्द पैदा नहीं होता। हे भगवान् ! तुम तो सभी प्राणियों के समान रूप से पालनकर्ता कहलाते हो, फिर यदि एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तो मन में रोष पैदा नहीं होता, परंतु यदि शक्तिशाली सिंह, निरपराध पशुओं के झुंड पर आक्रमण करे तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना चाहिए।"

इस तरह परमात्मा को जोरदार उलाहना देकर नानक जी ने इस देश के प्रमुख शासकों तथा बड़े लोगों को भी फटकारा है कि तुमने अपने कर्तव्य को बिसरा दिया और भोग-विलास में डूब गए, उसी का नतीजा इस तरह भोग रहे हो—

रतन बिगाड़ बिगोए कुतीं मुइआ सार न काई।
आगो देजे चेतीए तो काइतु मिलै सजाइ।
शाहां सुरति गबाईआ रगि तमासै चाइ।
बाबर वाणी फिरि गई कुइरा न रोटी खाई।
इकता बखत खुआई अहि इकंहा पूजा खाई।
चउके विणु हिंदवाणीआ किउ टिके कढहि नाइ।
राम न कबहू चेतिओ हुणि कहणि न मिलै खुदाई।

अर्थात् "इन नीच कुत्तों (विलासी शासकों) ने रतन के समान इस देश को बिगाड़कर रख दिया। इनके मरने के बाद कोई इनकी बात भी नहीं पूछेगा। अगर ये पहले से ही सावधान हो जाते तो हमको ऐसी सजा क्यों मिलती ? पर यहाँ के शासक तो सदा रंग तमाशों में ही डूबे रहे, उन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान ही न था। नतीजा यह हुआ कि इस समय चारों ओर बाबर की दुहाई फिर गई है, किसी को रोटी तक खाने को नहीं मिलती। मुसलमानों (पठानों) की नमाज का समय जाता रहा और हिंदुओं की पूजा छूट गई। अब चौके के बिना हिंदू स्त्रियाँ किस प्रकार अपनी पवित्रता की रक्षा करेंगी ? जिन्हें कभी राम शब्द भी याद नहीं आया था, अब वे आक्रमणकारियों के भय से खुदा को याद करना चाहते हैं, परंतु जालिम लोग उनको खुदा भी नहीं कहने देते।"

खेद का विषय है कि इस प्रकार की जिल्लत उठाकर और अमानुषी दंड सहन करके भी हिंदुओं की आँखें नहीं खुलीं। उसके पश्चात् भी मानसिंह, जयसिंह, यशवंतसिंह आदि प्रमुख राजपूत नरेश मुगल बादशाहों के अनुचर बनकर अपने ही भाइयों को पराधीन बनाने का पाप-कर्म करते रहे। उसके बाद जब अंग्रेज आए तब भी हिंदुओं ने ही उनके सहायक बनकर शासन-कार्य में हर तरह से सहयोग दिया और आज के दिन भी इस जाति की पारस्परिक फूट,

मत-विरोध, कर्तव्यहीनता स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। वह तो इस समय अंतर्राष्ट्रीय राजनीति बदल गई है, नहीं तो हमारे कर्म तो अब भी ऐसे ही हैं कि कोई भी बड़ी विदेशी शक्ति हम पर आक्रमण करके पठानों और मुगलों की तरह ही चोटी पकड़कर जमीन पर घसीटे और मनमाने ढंग से बेइज्जत करे; और आश्चर्य तब होता है, जब इतनी नालायकी पर भी लोग बेशरमी से अपने को महान्, श्रेष्ठ, पुण्यात्मा, धर्मात्मा कहने में संकोच नहीं करते। हिंदू-जाति की इसी हेय मनोवृत्ति को देखकर अब से लगभग आठ-नौ सौ वर्ष पहले विदेशी इतिहास-कार "अलबरूनी" ने भारत भ्रमण करके अपना अनुभव इस प्रकार लिखा था—

"हिंदू लोग समझते हैं कि उनके देश जैसा दूसरा देश नहीं, उनके राजा जैसा दूसरा राजा नहीं, उनके धर्म जैसा दूसरा धर्म नहीं। यदि तुम खुरासान तथा ईरान के शास्त्रों तथा विद्वानों के संबंध में उनसे बातचीत करोगे तो वे तुमको मूर्ख ही नहीं, मिथ्यावादी भी समझेंगे। यदि वे विदेशों की यात्रायें करें, दूसरों से मिलें-जुलें तो उनकी यह प्रवृत्ति नहीं रहेगी, क्योंकि उनके पूर्वज ऐसे नहीं थे।"

क्या हम आशा करें कि समझदार हिंदू अब भी अपनी इस त्रुटि को समझेंगे और जब तक दोषों को त्यागकर अपने को वास्तव में एक जीती-जागती जाति न बना लेंगे तब तक पूर्वजों की कीर्ति के आधार पर क्या व्यर्थ गाल बजाना छोड़ देंगे ? गुरु नानक ने उसी समय इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था। यद्यपि सम्राट् बाबर स्वयं उनमें श्रद्धा रखता था और उनसे आशीर्वाद माँगता था, पर फिर भी उन्होंने इस देश के शासकों को उनकी नामर्दी और स्वार्थपरता के लिए बहुत फटकारा—

कहा सु खेल तबेले घोड़े कहा भेरी सहनाई।
कहा सु तंगबंद गाडेरड़ि कहा सु लाल कवाई।
कहा सु आरसीआ मुँह बके ए थ दिसहि नाही।
रहा सु घर दर मंडप महला रहा सुबंक सराई।
कहा सु सेज सुखाली कामणि जिसु बेसु नींद पाई।
कहा सु पान तंबोली हरया होइओ छाई याई।

अर्थात्—"तुम्हारे वे खेल-तमाशे, घोड़ों से भरे तबेले, वे भेरियाँ और शहनाइयाँ कहाँ चली गईं ? वे तलवारें, रथ और चमकीले वस्त्र कहाँ गए ? तुम्हारे दर्पण और उनमें दिखाई पड़ने वाले बाँके चेहरे अब क्यों नहीं दिखाई पड़ते ? तुम्हारे वे सुंदर, घर, दरवाजे, मंडप, महल, सुख देने वाली सेज और वह कामिनी जिसे देखकर रात में नींद भी नहीं आती थी, वे सब किस तरफ चले गए ? पान, तांबूल देने वाली हरम (जनाना महल) में भरी तमाम औरतें अब कहाँ हैं ?"

नानक देव की वह विशेषता बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने राष्ट्र तथा समाज की त्रुटियों को गहरी नजर से देखा और उनके संबंध में इतने आवेश के साथ अपने देशवासियों को ललकारा। अन्य संतों ने अगर कहीं लोगों की दुर्दशा की चर्चा भी की है तो उसे भाग्य या भगवान् का अप्रसन्नता का परिणाम कहकर लोगों को केवल भगवद् भक्ति की प्रेरणा दी है। पर नानक जी ने इस समस्या के प्रत्यक्ष कारणों पर विचार किया और इसके लिए अपने भाईयों को ही दोषी ठहराया। उन्होंने कहा कि जब तुम अपने कर्तव्य का पालन, पीड़ितों की सेवा, जनता के लिए न्याय का व्यवहार आदि ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करके ही राग-रंग में ही जीवन बिताने लगे तो उसका दंड तुमको भोगना ही पड़ेगा। ईश्वर भी तुमको इसके लिए क्षमा नहीं कर सकता, क्योंकि वह न्यायकारी है। इसलिए धन, जन, महल, किला, रूप, यौवन आदि का कभी अभिमान न करो, ये चाहे जब देखते-देखते नष्ट-भ्रष्ट हो सकते हैं, जैसे इस समय बाबर के सिपाही ऊँची पदवीधारी नर-नारियों की दुर्गति कर रहे हैं। इसलिए संभलो, होश में आओ और कुमार्ग से हटकर ईश्वरीय सत्मार्ग का अवलंबन करो। ईश्वर की राह पर चलने वाले को न कभी रोना पड़ता है, न पश्चात्ताप करना पड़ता है।

गुरु नानक की दार्शनिक विचारधारा—

गुरु नानक का जन्म हिंदू परिवार में हुआ था और आरंभ में उन्होंने संत महात्माओं से जो उपदेश सुने थे, वे हिंदू शास्त्रों, वेद, पुराणों आदि पर ही आधारित थे। इसलिए अपने आगामी जीवन में भी उन्होंने जो कुछ उपदेश दिये, ईश्वर, सृष्टि, जीवन, मृत्यु के संबंध

में जो सिद्धांत बतलाये, वे भारतीय धर्म के ही अनुकूल थे। पर वे कबीर तथा सूफी शेख फरीद के एकेश्वर के प्रतिपादन से भी काफी प्रभावित हुये थे। इसके अतिरिक्त गुरु गोरखनाथ के हठयोग का साधन करने वाले अनुयायियों तथा जैन और बौद्ध धर्म के आचार्यों के संपर्क में भी वे रहे। इसलिए उनके धार्मिक सिद्धांतों का आधार मुख्य रूप से वेदांत दर्शन रहने पर भी उसमें जैन, बौद्ध, हठयोग, इस्लाम की विचारधारायें भी न्यूनाधिक रूप में शामिल हो गई। खासकर उस पठान-शासन के युग में पंजाब में मुसलमानी सिद्धांतों का प्रभाव काफी बढ़ गया था। मुसलिम शासकों ने तलवार के जोर से तो अपना धर्म फैलाया ही था, पर अनेक मुसलमान विद्वानों तथा संतों ने हिंदुओं के बहुदेववाद के मुकाबले में अपने एकेश्वरवाद की श्रेष्ठता भी सिद्ध की थी, जिसका असर जनता के एक भाग पर पड़ रहा था। नानक जी की भेंट जब पंजाब के सूफी-संत शेख इब्राहीम से हुई तो उन्होंने इनका आधा हिंदू और आधा मुसलमान जैसा वेष देखकर—"महाराज ! एक तरफ हो जाओ, दो किश्तियों पर क्यों पैर रखते हो ?" नानक जी ने फर्माया—"इसमें क्या हर्ज है, मनुष्य को दोनों नावों पर सवार होकर संतुलन बनाये रखना आना चाहिए। दीन और दुनिया दोनों एक साथ निभाई जा सकती है, यदि हृदय में सच्चाई हो।"

गुरु नानक सत्य के पुजारी थे और उन्होंने धर्म का विवेचन करने के लिए जो कुछ कहा है, वह आडंबरयुक्त वचनों और वाक्छल से रहित है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "धर्म के विषय में लंबी-चौड़ी बातें करने से कोई लाभ नहीं। सिद्धांत वही सच्चा है और ठीक माना जा सकता है, जो व्यवहार में लाया जा सके।" उन्होंने कहा—

सोचइ सोचन होवइ जे सोची लख वार।
चुप्पे चुप्पे न होवई जो लाए रवां लिवतार।
भुखयां भुक्खन न उतरी जे बन्नां पुरियां भार।
किव सचयारा होवियौ किव कूड़े तुट्टे पाल।
हुकम रजाई चल्लना नानक लिखया नाल।।

अर्थात्—"केवल विचार करने से कोई बात पूरी नहीं हो सकती, शांत चाहे लाख बार सोचते रहो। इसी प्रकार प्रकट में जैसे शांति रहने से भीतरी शांति प्राप्त नहीं हो सकती। केवल "भूख-भूख" मुख से कहने से भूख नहीं मिट सकती, चाहे पास पूरियों से भरे टोकरे क्यों न रखे रहें। इसी प्रकार तुम यदि सत्यधर्मी बनना और असत् से बचना चाहते हो तो उसका एक मात्र उपाय यही है कि निरंतर ईश्वर के आदेश का पालन करते रहो—उसी के दिखाये मार्ग पर सदा चलो।"

चाहे कोई पूजा-पाठ, जप-तप योग आदि कितना भी करे, पर नानक जी की दृष्टि में यदि वह लोगों का उपकार—पीड़ितों की सेवा नहीं करता तो वह सब महत्त्वहीन है। वे तिब्बत तक गये थे और हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पहुँचकर सिद्ध योगियों से भेंट की थी। उन सिद्धों से भी उन्होंने यही कहा था कि—"आप तो यहाँ मोक्ष की साधना में लीन है और वहाँ संसार की दशा यह है कि समय के समान घातक हो रहा है। शासकगण कसाई बन गए हैं। धर्म पंख लगाकर उड़ गया है, चारों तरफ झूँठ की काली रात छाई हुई है, उसमें सच्चाई का चंद्रमा कहीं दिखाई नहीं देता है।"

नानक जी भगवान् के विराट् रूप के उपासक थे, इसलिए उन्हें संसार के सब पदार्थ और प्राणी भगवान् के रूप में ही दिखाई पड़ते थे। जब हम सब उसी एक अनादि-तत्त्व के अंश हैं तो आपस में लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या-द्वेष कैसा ? जगन्नाथ जी पहुँचने पर उन्होंने मंदिर के सम्मुख भगवान् की जो आरती उतारी थी, वह देखिए कैसी सच्ची प्रेरणा दायक है—

गगन में थाल रविचंद्र दीपक बने
तारिका-मंडल जनक मोती।
धूप मलिआनलो पउणु चवरो करै
सगल वनराइ फूलंत जोती।
कैसी आरती होई भवखंडना तेरी आरती
अनहता सबद बाजंत भेरी।।

अर्थात्—"उस भगवान् की आरती के लिए इस आकाश रूपी थाल में सूर्य और चंद्रमा दो दीपकों की तरह प्रकाशित हैं। तारागण मोती के समान चमक रहे हैं। मलयानिल सुगंध फैला रहा है और वायु चँवर कर रही है। वनों में फूले हुए समस्त फूल उसके भेंट स्वरूप हैं और अनहद नाद शंख अथवा भेरी की तरह बज रहा है। यही उस भगवान् की सच्ची आरती है।"

गुरु नानक का व्यवहारिक अध्यात्मवाद

गुरु नानक ने जब समाज को अनेक भागों में बँटा देखा तो अनुभव किया कि इसके कारण ही हिंदू जाति निर्बल होकर दूसरों की ठोकरें खा रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि पुजारी-पंडित वर्ग ने धर्म पर एकाधिकार किया हुआ है और वे धार्मिक संस्कारों का कराना अपनी बपौती समझकर मुफ्त का माल उड़ा रहे हैं। इसी वर्ग ने अपने स्वार्थ साधन के लिए जनता को राजनैतिक और सामाजिक चेतना से हीन बना दिया था, जिससे वह देशी और विदेशियों के तरह-तरह के अन्यायों को मूक बनकर सहन कर रही थी।

इस तरह नानक जी ने जब समाज के रोग को पहिचान लिया तो उन्होंने एक ऐसा संगठन बनाने का निश्चय किया, जिसमें धर्म को व्यापार की चीज न बनाया जाये और जिसमें धार्मिक और जातीयता की दृष्टि से किसी को छोटा-बड़ा न माना जाय। इसलिए उन्होंने पृथक्-पृथक् पूजा-उपासना के स्थान पर सामुदायिक उपासना का प्रचलन किया। इसमें सब कोई एक जगह एकत्रित होकर सृष्टिकर्त्ता भगवान् की स्तुति और गुणगान करते थे। इस उपासना में भेंट-पूजा चढ़ावे या किसी एक व्यक्ति के लाभ का कोई सवाल न था। इसमें जाति की दृष्टि से ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष तथा विभिन्न धर्मों का भी भेद नहीं किया जाता था। सब कोई मिलकर एक जगह बैठते थे और गुरु जी के सत्य-धर्म उपदेशों को सुनते थे।

उन्होंने अपने इस सिद्धांत को व्यवहारिक रूप देने का दूसरा कार्य यह किया कि सब लोगों का खाना एक साथ बने और सब एक ही पंगत में बैठकर भोजन करें। चौके-चूल्हे की पृथकता ने भी हिंदुओं में भेदभाव की अनेक दीवारें खड़ी कर दी थीं। कौन किसके हाथ का

खा सकता है और किसके हाथ का नहीं खा सकता, इसका जंजाल इतना अधिक बढ़ा दिया था कि हिंदुओं में प्रायः "आठ कनौजिया नौ चूल्हे" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी थी। गुरु नानक ने अपने यहाँ लंगर-प्रथा प्रचलित करके इसकी जड़ ही काट दी। वे इस संबंध में कहाँ तक दृढ़ रहते थे, इसकी एक घटना इस प्रकार बतलाई जाती है—

एक बार किसी उत्सव के उपलक्ष्य में भोज था। जब सब संगत में उपस्थित जनों की पंगत बैठ गई और भोजन परोसा गया तो शिष्यों ने कहा—"महाराज, आरंभ कीजिये।" गुरु जी ने चारों तरफ नजर दौड़ाई और बोले—"अभी नहीं, रोटी बनाने वाले तो आए ही नहीं।" जब वे आ गए, तब भी गुरु जी ने खाना शुरू नहीं किया और आँगन में झाड़ू देने वालों को दूर खड़ा देख कर कहा—"उन्हें भी तो बुलाओ।"

यह घटना कर्तारपुर की है, जहाँ वे अपनी अंतिम अवस्था में निवास करते थे। उस समय का जिक्र करते हुए कहा गया है कि—"यहीं पर वे गुरु कहलाए और यहीं पर अपनी मान्यताओं को उन्होंने मूर्त रूप दिया। गुरु तो बन गए पर अहंकार, आडंबर का नाम नहीं। बस, समझिए बड़े भाई की तरह रहने लगे। चढ़ावा-चढ़ने लगा, संपदा एकत्रित होने लगी, पर नानक जी के लिए इसमें से एक पाई भी हराम थी। उन्होंने अपनी गुजर खेती-बाड़ी और मूँज की रस्सी बँटकर की। कबीर, रैदास, गाँधी, नानक के अतिरिक्त बहुत थोड़े ऐसे संत फकीर हुए हैं, जो ऋद्धि-सिद्धियुक्त होते हुये भी अपने दस नाखूनों की कमाई पर गुजर करना पसंद करते थे और एक खास बात यह हुई कि अपनी वानप्रस्थ अवस्था में जब वे गुरु के समान पूजे जाने लगे तो नानक जी ने साधु के बजाय गृहस्थों का सा वेष धारण कर लिया। वे नहीं चाहते थे कि वे या उनके उत्तराधिकारी अन्य गुरु, साधुओं की वेषभूषा के कारण पूजनीय समझे जायें। वे गेरुआ वस्त्र और कंठी, माला, तिलक के आधार पर हिंदू-साधुओं की मान्यता होने का कुपरिणाम अच्छी तरह देख चुके थे।

यह है सच्चे अध्यात्म की कसौटी। दिन-रात जीवन, ब्रह्म, माया की गुत्थियाँ सुलझाते रहना, जगत् को असत्य बतलाना, सबसे

निराला वेष और रहन-सहन रखना, पर किसी का रत्तीभर भी उपकार न करके समाज के सिर पर अपने निर्वाह का भार डाल देना अध्यात्म का लक्षण नहीं है। इतना ही नहीं, साधु-संन्यासी होकर अध्यात्मज्ञानी बनना और स्वयं निकम्मे रहकर गैर लोगों की कमाई पर आराम की, ठाट-बाट की जिंदगी बिताने में भी ऐसे लोगों को लज्जा नहीं आती। गुरुनानक ने समझ लिया था कि यह नकली अध्यात्मवाद समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है और लोगों में अंधविश्वास तथा झूठी श्रद्धा का एक बड़ा कारण बना हुआ है। इसलिए उन्होंने अपने यहाँ पुजारी और झाड़ू देने वाले को पंथ में समानता का दर्जा देकर इस "ठग विद्या" की जड़ ही काट दी।

इस सिद्धांत की यथार्थता का एक उदाहरण हमको महात्मा गाँधी द्वारा प्रकट किये गये विचारों में भी मिलता है। उनके साबरमती आश्रम में एक संन्यासी कुछ देखने-सुनने को आये। उनको वहाँ की कार्य-प्रणाली और सिद्धांत पसंद आए और वे कहने लगे कि मेरी इच्छा है कि आपके आश्रम में रहकर ही कुछ जन-सेवा का कार्य करूँ। गाँधी जी ने उत्तर दिया कि आपका विचार वैसे तो ठीक है, पर अगर आप आश्रम में रहना चाहें तो आपको अपना यह गेरुआ वेष त्याग देना होगा। यह सुनकर संन्यासी जी चकराये और कुछ असंतुष्ट भाव से कहने लगे—"मैं गेरुआ वस्त्र कैसे त्याग सकता हूँ ? मैंने विधिवत् संन्यास ग्रहण करके इनको धारण किया है ?" गाँधीजी ने उन्हें समझाया कि "आप इस वेष को धारण करके जन-सेवा का कोई कार्य नहीं कर सकते। इसे देखकर कोई आपसे सेवा कराने को तैयार नहीं होगा, वरन् वह आपकी सेवा करना ही अपना धर्म मानेगा।" गाँधी जी की बात उनकी समझ में आ गई और उन्होंने गेरुआ वस्त्र त्यागकर खादी के वस्त्र धारण कर लिए।

वास्तव में आध्यात्मिकता न वेष से संबंध रखती है, न पूजा-पाठ से, न जप-तप से। इन सबको करते हुये भी मनुष्य एक नंबर का पाखंडी, आडंबरी और स्वार्थपरायण हो सकता है। हमने निर्जन जंगलों और दुरुह पर्वतों में रहने वाले लगभग नंगे साधुओं को भी सामान्य बातों पर दूसरों से लड़ते देखा है। एकाध बार तो धूनी की लकड़ियों के संबंध में तकरार होकर ऐसे साधुओं में खून खराबी

तक की नौबत आ गई। इसके विपरीत अन्य अनेक व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहते हुए, स्वयं अभाव सहन करके भी दूसरों की सहायता करते हैं। अवसर पड़ने पर प्राण तक देकर दूसरों की सेवा, बचाव करते हैं।

नानक जी मानते थे कि भलाई, सज्जनता आदि का गुण मनुष्य में स्वभावतः होता है। पर वह अनुकूल स्थिति न पाने के कारण छिपा रहता है। सच्चे संतों, सद्गुरु का कर्तव्य है कि वह इस भलाई के तत्त्व से मनुष्य को परिचित करायें और उसके बढ़ाने में मदद करें। यही गुरु का सबसे बड़ा उपकार शिष्य पर होता है, जिसके लिए वह गुरु को भगवान् के तुल्य समझकर पूजता है। पर यह कार्य सच्चे अध्यात्मवादी, निःस्वार्थी, निस्पृह गुरु ही कर सकते हैं और इसी में उनके अध्यात्मवादी का सच्चे या झूठे होने की परीक्षा हो सकती है।

गुरु नानक के प्रचार का प्रभाव हिंदू-समाज पर पड़ा, पर उसका प्रत्यक्ष परिणाम अधिकांश में पंजाब में ही देखने को मिला। हम कह सकते हैं कि जात-पाँति के बंधनों, खान-पान में चौका-चूल्हे के नियमों और छुआछूत की बीमारी को सबसे अधिक पंजाब में ही त्यागा गया है। दक्षिण भारत में तो छूत-अछूत का प्रश्न आज भी एक समस्या के रूप में मौजूद है और वहाँ अब भी सामाजिक कारणों से अछूतों के मारे जाने के समाचार आते रहते हैं। उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि हिंदी भाषी प्रांतों में स्वामी दयानंद और महात्मा गाँधी के प्रचार कार्य के फलस्वरूप इस प्रकार के भेद-भाव की तीव्रता कम हो गई है और यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार तो नहीं किया जाता, पर व्यवहार में अछूतों को बहुत कुछ सुविधायें मिल गई हैं। बंगाल में सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ब्रह्म-समाज के प्रचार ने परिस्थिति को बहुत कुछ बदल दिया है। इस प्रकार समाज में से विषमता को मिटाकर समता तथा एकीकरण का जो महान् कार्य गुरु नानक ने उठाया था, वह आज फलता-फूलता नजर आ रहा है, यह कम संतोष की बात नहीं है।

जन-भाषा का प्रयोग—

गुरु नानक ने अपने प्रचार कार्य में उसी भाषा का प्रयोग किया है, जो उस समय पंजाब में बोली जाती थी और जिसे शिक्षित, अशिक्षित, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सब सहज में बोल सकते थे। फिर उन्होंने शास्त्रों के गंभीर सिद्धांतों का सरल ढंग से प्रतिपादन किया है, जिससे उनका आशय ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो। देखिये मनुष्य मात्र की समानता को हिंदू-शास्त्रों के सिद्धांतों के आधार पर उन्होंने किस तरह समझाया है—

जाति का गरब न कर मूरख गावारा।
इस गरब ते चलहि बहुत विकारा।।
माटी एक सगल संसारा।
बहुविधि भाँड़े घड़ै कुंभारा।
पंच तत्तु मिल देही का आकारा।
घट वध को करें विचारा।।

अर्थात्—"हे मूर्ख, गँवार ! जाति का घमंड करना छोड़ दे, क्योंकि इससे बहुत बुराइयाँ पैदा होती हैं। समस्त संसार में एक ही मिट्टी है और कुम्हार उसे लेकर तरह-तरह के बर्तन बनाता है। इस प्रकार पाँच तत्त्व मिल जाने से यह मनुष्य शरीर का ढांचा बनकर खड़ा हो जाता है। इसमें छोटे-बड़े का विचार करना व्यर्थ ही है।"

जीवन-मरण की पुनर्जन्म की समस्या को उन्होंने कुँए से पानी खींचने वाली रहट का उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है,

जैसे हरहट की माला टिंड लगत है,
इक सखनी होर फेरि भरीयत है।
तैसो ही एह खेल खसम का जिऊ उसकी बाडियाई

अर्थात्—"जैसे पानी खींचने के रहट की ढोकलियाँ नीचे जाती हैं, पानी से भरी हुई ऊपर निकलती हैं और खाली होकर फिर नीचे चली जाती हैं, ऐसा ही हमारा यह जीवन कर्तार के एक खेल के समान है।"

गुरु नानक ने अपनी बाल्यावस्था में घर में कृषि-कार्य होते देखा था और अपनी अंतिम अवस्था में भी उन्होंने खेती-किसानी करके ही जीवन-निर्वाह किया। साथ ही जिन लोगों में वे प्रचार कार्य करते थे उनमें भी बहुसंख्यक व्यक्ति उसी ग्रामीण जनता के थे, जिसका जीवनाधार खेती ही है। इसलिए नानक जी ने आध्यात्मिक सिद्धांतों को खेती-किसानी के रूपक में भी बड़े सुंदर ढंग से समझाया है—

सावण रात अहाड़ दिहु काम करोध दोई खेत।
लव वत्तर दरोग वीउ हाली राह कुहेत।
हल विचार विकार मन हुकमी खट्टे खाइ।
नानक लेखै मंगी रो आउत जणेता जाई।।

अर्थात्—"सावन रूपी रात और आषाढ़ रूपी दिनों में, काम-क्रोध रूपी खेतों में, लोभ रूपी जल द्वारा मनुष्य सदा झूठ का बीज बोता रहता है। सांसारिक विषय-भोग की अभिलाषा ही उसका हल है, विकारयुक्त मन की आज्ञा से वह कमाता-खाता है, परंतु जब हिसाब का समय आता है (देह त्याग करके परम पिता के सम्मुख पहुँचता है)—तब उसके पास कुछ भी नहीं होता, खाली हाथ ही वहाँ जाता है।"

कुबुद्धि वाले किसान का चित्रण करके उन्होंने फिर सुबुद्धि युक्त किसान का वर्णन उस प्रकार किया है—

भउ मुइं पवित्त पापी संतोख मलीद।
हल हलीमी चित्त चेता वत्तर बखत संजोग।
नाउ बीज बखशिश बोहल दुनिया सगल दरोग।
नानक नदरी करम होवे जानसि सकल विजोग।।

अर्थात्—"दूसरा किसान भाव रूपी पवित्र भूमि पर सत्य और संतोष रूपी बैलों द्वारा शांति का हल चलता है। स्थितप्रज्ञता की खाद देकर वह काम रूपी बीज बोता है। ऐसे चतुर किसान को फल की प्राप्ति होती है।"

इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे चल कर कहा है—

मनुहाली किसाणी करणी सरमु पाणी तन खेत।
नाम बीज संतोख सुहाग रखु गरीबी वेश।।

अर्थात्—"मन को हलवाहा बनाओ, कार्य करने को हल चलाना समझो, श्रम को पानी और शरीर को खेत बनाओ। उसमें नाम रूपी बीज बोओ, संतोष रूपी खाद डालो और गरीबी का वेष धारण करो।"

इस प्रकार बहुत सरल बोलचाल में नानक जी ने सामान्य जनता को धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाये। इस प्रकार के शिक्षण में जन-भाषा का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि संस्कृताभिमानी पंडित उसे एक घटिया बात मानते हैं। स्वामी दयानंद जी ने भी सिक्ख मत की आलोचना करते हुये यही लिखा है कि "नानक जी बहुत कम पढ़े-लिखे थे, वेद, उपनिषद् आदि का अध्ययन उन्होंने कभी किया नहीं था, इसलिए उनके धार्मिक उपदेश बहुत अधिक सामान्य कोटि के हैं।" पर संस्कृत के बहुत बढ़े-चढ़े पक्षपाती हमें क्षमा करें, हम यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जिस बात को वे एक बड़ा गुण समझते हैं, वह हमारी दृष्टि में एक बड़ी त्रुटि की तरह है। वेद, उपनिषद्, पुराणों में जो जीवनोपयोगी बातें मिलती हैं, आत्मोन्नति का जो मार्ग बतलाया है उसकी प्रशंसा हम भी करते हैं और उसका यथाशक्ति प्रचार भी करते हैं, पर यह आग्रह करना कि उन बातों को पूर्वकाल की भाषा में ही पढ़ा और समझा जाय उचित नहीं कहा जा सकता। करोड़ों की संख्या वाली सामान्य जनता, जिसमें से एक बड़े भाग को अभी अक्षर-ज्ञान का अवसर भी प्राप्त नहीं हो सका है—कभी संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकेगी, यह एक दुराशामात्र ही है। तब क्या उसको धर्मज्ञान से शून्य ही रहने दिया जाय ?

हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदुओं के धार्मिक संस्कारों तथा अन्य जातीय-कृत्यों को संस्कृत भाषा में ही किये जाने का आग्रह, एक वर्ग विशेष के स्वार्थ की निगाह से ही किया जाता है। वे चाहते थे कि धर्मकृत्य सदैव एक ऐसी भाषा में कराए जायें, जिसका ज्ञान अन्य लोगों को बहुत कम है, उससे वे हमारे ऊपर ही

निर्भर रहेंगे और हमको सहज में ही सुखपूर्वक निर्वाह करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा। पर उनकी इसी स्वार्थ-पूर्ण नीति का यह नतीजा हुआ कि इस देश में अन्य मतमतांतरों को फैलाने का अवसर मिला और हिंदुओं की शक्ति घटती गई। एक तरफ तो हम आजकल ईसाई धर्म प्रचारकों को देखते हैं, जिन्होंने अपने धर्मग्रंथों को दो-चार नहीं, दो-तीन सौ भाषाओं में भाषांतर करके संसार के कोने-कोने में पहुँचाने का प्रयत्न किया है और दूसरी तरफ हमारे वे धर्म के ठेकेदार सज्जन थे जो अपने धर्मग्रंथों को संदूक में ही बंद रखना चाहते थे और कहते थे कि अगर इसकी एक पंक्ति भी अन्य लोगों ने सुन ली तो महान् पापकर्म हो जायेगा।

ब्राह्मण-वर्ग की इस कमजोरी को बौद्ध और जैन धर्मवालों ने पहिचाना और अपना धार्मिक साहित्य जन-भाषा में प्रस्तुत किया ! आज भी बौद्धों के समस्त मूल धर्मग्रंथ पाली भाषा में और जैनियों के प्राकृत भाषा में मिलते हैं, जो उनके युग और क्षेत्र की जन-भाषायें थीं। इसका फल हुआ कि इस देश में रहने वाले हिंदुओं में से करोड़ों ही उन धर्मों में दीक्षित हो गये। आज परिस्थिति कुछ बदली अवश्य है तो भी उच्च वर्ण वालों की संकीर्णता और स्वार्थपरता बहुत कुछ शेष है। इसका परिणाम हम यह देख रहे हैं कि पिछले साठ-सत्तर वर्ष के भीतर ही ईसाइयों की संख्या दुगुनी से अधिक होकर दो अरब से ऊपर पहुँच गई और मुसलमान भी ड्योढ़े-दुगुने हो गए। इनके मुकाबले में हिंदुओं की वृद्धि नाम मात्र को हुई है। यदि हम बौद्ध धर्म की स्थिति को संदिग्ध समझकर उसे छोड़ दें तो अब हिंदू जनसंख्या की दृष्टि से तीसरे नंबर पर है, जबकि सन् १९१० की ही मर्दुमशुमारी में हिसाब लगाकर देखा गया कि वे संसार भर की मुस्लिम आबादी से काफी अधिक थे। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। धार्मिक विषयों में संकीर्णता और स्वार्थ-साधन की नीति इसके सिवा अन्य कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती।

इसलिए गुरु नानक ने यदि इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया और अपने धार्मिक उपदेश तथा धार्मिक ग्रंथ में ठेठ पंजाबी भाषा का प्रयोग किया तो यह कोई हीनता की नहीं वरन् प्रशंसा की ही बात थी। इससे उनका समुदाय जितना फला-फूला और अपने धर्म

पर सुदृढ़ रहने वाला बना, उसका प्रमाण हम बराबर अपनी आँखों से आज भी देखते रहते हैं। रह गई वेद और शास्त्रों के ज्ञान की बात, उसके लिए उन्हें मूल रूप में पढ़ना ही आवश्यक नहीं है। पुराने समय में तो पुस्तकीय शिक्षा का प्रचार बहुत कम था, और कागज उस समय एक दुर्लभ पदार्थ था। इसलिए अधिकांश ज्ञान का आदान-प्रदान मौखिक रूप से ही हुआ करता था। संत-महात्मा इस प्रकार की चर्चा देश-भाषा में ही करते थे, इसलिए वह ज्ञान शिक्षित-अशिक्षित सभी को सहज में प्राप्त होना संभव था।

गुरु नानक ही नहीं, संत तुकाराम और श्रीरामकृष्ण परमहंस भी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये सब नाम मात्र को पढ़े थे या अपढ़ ही थे, पर उनके उपदेशों तथा धार्मिक प्रतिपादन को पढ़ कर वर्तमान समय में उच्च कोटि के विद्वान् भी अपने को धन्य समझते हैं। संत कबीर ने स्वयं कहा है—"मसि कागज छूओ नहीं, कलम गहो नहिं हाथ।" तुकाराम भी कहते थे—'संतों की उच्छिष्ठ उक्ति है—मेरी वानी।" रामकृष्ण परमहंस ने पाठशाला भेजे जाने पर पहले ही दिन कह दिया था कि—"मुझे पढ़-लिखकर क्या करना है, मुझे जीवन निर्वाह के लिए कथा तो बाँचनी नहीं है, हमारे खेत में खाने लायक अनाज हो ही जाता है।" इसलिए वेद शास्त्रों के सिद्धांतों को बिना पुस्तकीय ज्ञान के भी अच्छी तरह ग्रहण किया जा सकता है। वास्तव में जो उनके अनुसार आचरण करेगा, वही उनका असली मर्म समझ सकेगा। ग्रंथों को अच्छी तरह पढ़ लेना, पर तदनुसार आचरण न करना तो तोते की तरह रटने से अधिक महत्त्व नहीं रखता।

सर्वभूत हितेरता—

संतों का एक मुख्य लक्षण सब प्राणियों का हित-चिंतन करना है। जब वे कहते हैं कि समस्त जीव एक ही परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं तब यह कैसे संभव है कि किसी के प्रति द्वेष भाव रखें या छल करें या बुरा सोचें। इसमें संदेह नहीं कि संसार में बुरे लोगों की कमी नहीं और कितने ही तो इतने दुष्ट होते हैं कि संतों को ही सताने लगते हैं। पर संत की कसौटी यही है कि वह अपने उपकारकर्ता, शत्रुभाव रखने वाले को भी क्षमा करके उसके साथ भलाई करते हैं। कबीर,

तुलसीदास, तुकाराम आदि को द्वेष भाव रखने वाले व्यक्तियों ने काफी तंग किया, पर उन्होंने बदले में उनके प्रति सद्व्यवहार ही किया। नानक जी के भी सामने दो-चार बार ऐसी समस्यायें आई पर उन्होंने सदा विरोधियों को क्षमा करके सत्मार्ग का ही उपदेश दिया।

नानक जी की एक विशेषता यह थी कि वे बड़े लोगों के बजाय दीन-दुःखी, निर्बल, पीड़ित जनों के संपर्क में अधिक रहते थे और उनको उद्धार का मार्ग दिखलाते थे। इस संबंध में लालो और मलिक भागो वाली घटना बहुत प्रसिद्ध है। जब वे साधुवेश में भ्रमण करते-करते सैयदपुर (जि० गुजरांवाला) में पहुँचे तो गाँव के किनारे पर बसे, एक संतों के भक्त लालो बढ़ई के यहाँ ठहर गये। इससे कस्बे में यह समाचार फैल गया कि एक उच्च जाति (खत्री) में उत्पन्न संत अछूत लालो के घर में ठहर गये हैं और उसी के हाथ का खाते-पीते हैं। यह खबर उस गाँव के मुखिया मलिक भागो ने भी सुनी। उस दिन उसके यहाँ एक भोज भी होने वाला था, इसलिए नानक जी के पास भी निमंत्रण भेज दिया। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने उसके बढ़िया भोजन से इनकार करके लालो की सूखी रोटियों को ही श्रेष्ठ बतलाया। उसने दुबारा नौकर भेजकर नानक जी को बुलवाया और उनसे निमंत्रण अस्वीकार करके लालो की रोटियों को ही श्रेष्ठ बतलाने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि, "तुम्हारा भोजन मुझे खून में सना जैसा लगता है और लालो की रोटियों में दूध और शहद का-सा स्वाद आता है।"

ऐसा क्यों होता है, यह पूछने पर उन्होंने बताया कि लालो परिश्रम करके जो कमाई करता है, उसी में से कुछ बचाकर अपनी शक्ति के अनुसार साधु-संत और राहगीरों की सेवा करता है। पर तुम स्वयं कुछ परिश्रम नहीं करते, वरन् घूस, अत्याचार और हुकूमत का डर दिखाकर जनता से धन ऐंठते हो।" गुरुजी की सच्ची बातें सुनकर मलिक भागो लज्जित हो गया और आसपास के सब लोग उनकी निस्पृहता तथा न्यायशीलता देखकर उनके भक्त बन गये। अन्य एक अवसर पर उन्होंने अपना सिद्धांत अग्र शब्दों में प्रकट किया था—

नीचा अंदर नीच जाति नीच हो अति नीच।
नानक तिनके संग साथ बढ़िया के ऊँका रीस।।

अर्थात्—"नीचों में भी जो नीच जाति के हैं, उनमें भी जो सबसे नीचे हैं, मैं उनके साथ हूँ। अपने आपको बड़ा मानने वालों से मेरा कोई संबंध नहीं।"

यही सच्चे संत और सत्पुरुषों के लक्षण हैं। बड़ों के साथी तो अधिकांश लोग स्वार्थ पूर्ति के लिए बनते हैं। उनका सच्चा साथी कोई नहीं होता, खुशामदी, जी हजूर कहने वाले उनको इसीलिए घेरे रहते हैं कि उनसे अपना कोई मतलब सिद्ध करें। सच्चे व्यक्तियों और परोपकार का व्रत लेने वालों को ऐसे वातावरण में रहने की क्या आवश्यकता ? वे तो अपना स्थान वहीं पर समझते हैं, जहाँ संसार द्वारा उपेक्षित, ठुकराये हुये, पीड़ित लोग रहते हैं। वे ही लोग दुःखों में रहकर भगवान् का स्मरण करते हैं और भगवान् संतों के रूप में सांत्वना देने उनके पास पहुँच जाते हैं। बड़े कहलाने वाले तो सदैव राग-रंग या स्वार्थपूर्ति में लगे रहते हैं, उनको कभी भगवान् की भी याद नहीं आती, फिर संत उनके पास किसलिए जायें ?

मैं संतों की जाति का हूँ—

किसी अवसर पर एक व्यक्ति ने नानक जी से प्रश्न किया, "आपकी जाति कौन-सी है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"मैं संतों के समुदाय का हूँ। मेरी जाति वही है, जो वायु और अग्नि की है। मैं वृक्षों और पृथ्वी की तरह जीवन यापन करता हूँ और उन्हीं की तरह काटे जाने और खोदे जाने को तैयार रहता हूँ। नदी की तरह मुझे इस बात की कोई चिंता नहीं कि कोई मेरे ऊपर फूल चढ़ाता है या गंदगी फेंकता है। चंदन की तरह उसी को जीवित समझता हूँ, जिससे सुगंध निकलती रहती हो।"

मक्का की यात्रा के अवसर पर किसी ने पूछा कि "हिंदू और मुसलमान में कौन बड़ा है ?" तो नानक जी ने जवाब दिया—"बड़ा वह है, जो भलाई का काम करता रहता है और जिसका ध्यान परमात्मा की तरफ रहता है। बिना अच्छे कर्मों के हिंदू हो या मुसलमान दोनों को रोना पड़ेगा।" जब यह पूछा गया कि जाग्रत् कौन है ? तो उन्होंने कहा—"जो

परमात्मा को अपने चारों ओर देखता है और माया में नहीं फँसता उसी को जगा हुआ समझो। ऐसे व्यक्ति की पहिचान यह है कि उसका हृदय सदा दया और सहानुभूति से ओत-प्रोत रहता है।"

यह सत्य है कि गुरु नानक के निकट हिंदू-मुसलमान का अंतर नहीं था और वे इन दोनों को ही नहीं, मनुष्य मात्र को चाहे वह किसी धर्म, वर्ण या जाति का हो, प्रेम की दृष्टि से देखते थे। इसका परिणाम यह था कि उस मुसलमानी शासन के जमाने में जबकि हिंदू जाति की बुरी हालत की जा रही थी, मुसलमान भी उनका आदर करते थे। स्वयं बाबर बादशाह उनके परोपकारी जीवन से प्रभावित होकर दर्शन करने आया था और अन्य भी सैकड़ों मुसलमान उनके शिष्य बनकर उपदेश सुनने आया करते थे। वे सब अपने घरों में अपनी संप्रदाय के अनुसार ही चलते थे, पर गुरु नानक से ईश्वर भक्ति, सेवा, परोपकार की शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को पवित्र बनाते थे। यही कारण है कि वे हिंदू होने पर भी नानक जी को अपना भी सच्चा हितैषी और प्रेम करने वाला समझते थे और जब आश्विन शुक्ल १० संवत् १५६५ (सन् १५३८) को गुरु जी का अंत समय आया तो उन्होंने जोरों से नारा लगाया—

नानक शाह फकीर।
हिंदू का गुरु मुसलमान का पीर।

पर इतना होने पर भी नानक जी को अपने धार्मिक सिद्धांतों की प्रेरणा हिंदू-शास्त्रों से ही मिली, जैसा उनकी अधिकांश वाणियों और गुरु ग्रंथ साहब से विदित होता है। इसका एक कारण यह भी था कि अन्य मजहबों ने धर्मशास्त्रों में ईश्वर, जीव-प्रकृति, सृष्टि-रचना; कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की समस्याओं पर इतनी गहराई से विचार भी नहीं किया गया है। हिंदू शास्त्रकारों ने तो इस संबंध में अनेक पहलुओं से इतने विस्तार के साथ विचार किया है कि एक बड़े विद्वान् से लेकर मामूली अनपढ़ ग्रामीण तक को उसमें अपने योग्य सामग्री मिल जाती हैं। नानक जी ने ईश्वर को समस्त सम्राटों का भी सम्राट बतलाते हुए उसकी प्रशंसा में कहा—

सो दरु केहा सो घर केहा जित वहि सरव समाले।
बाजे नाद अनेक असंखा केते गावण हारे।।

गावहि तुहिनो, पवणु, पाणी वैसंतरु गावैराजा धरम दुआरे।
गावहि चित्तगुपुत लिखि जाणहि लिख-लिख धरम विचारे।।
गावहि ईसरु वरमा देवी सोहनि सदा सँवारे।
गावहि इंदु इंद्रासणि बैठे देवतिया दरि नाले।
गावहि सिद्ध समाधी अंदरि गावनि साध बिचारे।।

अर्थात्—"वह स्थान किसका है ? वह घर किसका है ? जिसमें सब समा जाते हैं। जहाँ असंख्य प्रकार के वाद्य बज रहे हैं और सब कोई स्तुति कर रहे हैं। आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि पंचतत्त्व उसी की महिमा गाते हैं। धर्मराज, उनके पाप-पुण्य लेखक चित्रगुप्त; ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र आदि समस्त देवता भी उसी का गुणगान कर रहे हैं। समाधि अवस्था में रहने वाले सिद्धगण तथा सब संत उसी के गुणगान कर रहे हैं।"

एक महान् समाज सुधारक—

गुरु नानक के उपर्युक्त जीवन वृतांत पर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने समय के एक महान् समाज-सुधारक थे। उस समय आवागमन के साधनों के अभाव से यह तो संभव न था कि कोई प्रचारक अपने विचारों को समस्त भारतवर्ष में फैला सके। इतना ही क्यों ? हम कह सकते हैं कि उन दिनों पंजाब और बंगाल जैसे दो प्रांत व्यवहार में एक-दूसरे के लिए विदेशी की तरह ही जान पड़ते थे। इसलिए गुरु नानक की सुधार योजना यद्यपि पंजाब से आगे अधिक न बढ़ सकी तो भी उन्होंने हिंदू समाज के सम्मुख एक ऐसा आदर्श रखा, जिसने उसकी आँखें खोल दीं और जगह-जगह अपने ढंग से सामाजिक अन्यायों को मिटाने का प्रयत्न अपने-अपने ढंग से किया जाने लगा। इस कार्य को चैतन्य देव और कबीर ने भी लगभग उसी समय किया था। अन्य वैष्णव आचार्यों ने भी भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन कुछ अंशों में सामाजिक समता लाने की चेष्टा की, पर उसका परिणाम थोड़ा-सा ही हुआ और वह भी कुछ समय पश्चात् बहुत हल्का पड़ गया। इसके विपरीत नानक जी का लगाया पौधा दिन पर दिन जड़ पकड़ता गया और गुरु गोविंद सिंह के समय में उसने इतना शक्तिशाली और विशाल रूप ग्रहण कर

लिया कि पंजाब तथा आस-पास के कितने ही स्थानों के हिंदुओं की एक प्रकार से कायापलट सी हो गई।

इस दृष्टि से हम नानक जी को हिंदू समाज के एक उद्धारकर्ता का दर्जा दे सकते हैं। यह बात दूसरी है कि आज सिक्खों का रवैया बहुत कुछ बदला हुआ है और वे हिंदुत्व ही क्या, भारतीय संस्कृति की ओर भी दुर्लक्ष्य कर रहे हैं। पर नानक जी की वाणियों में, जिनमें से कुछ इस लेख में उद्धत की गई है, ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती। उन्होंने कभी कोई ऐसा प्रचार नहीं किया और न ऐसा कार्य किया, जिससे हिंदू-धर्म पर चोट लगती हो। हिंदुओं में जो अनगिनती देवी-देवताओं की पूजा और छुआछूत का जंजाल बढ़ गया था, उसी का खंडन उन्होंने वाणी और कर्म रूप में किया और वास्तव में ये ही दो बातें हिंदू-समाज को निर्बल तथा अन्य लोगों का भक्ष्य—शिकार बनाने वाली हैं। इनका त्याग जितना जल्दी किया गया उतना ही इस जाति का हित है, जब गुरु नानक की ५००वीं जयंती मनाई गई तो भारत के प्रधानमंत्री से लेकर छोटे-बड़े सभी नेताओं तक ने उनके महत्त्व को स्वीकार करके उन्हें धर्म तथा समाज का सच्चा संशोधक स्वीकार किया। सभी सामयिक पत्रों ने भी उनके संबंध में विद्वानों के लेख प्रकाशित किये। उससे यह अच्छी तरह विदित हो जाता है कि जिस समय विदेशियों के आक्रमणों के कारण इस देश में तथा विशेष रूप से पंजाब में धर्म डूबने लगा था तो गुरु नानक ने अपने सच्चे और निर्भीक उपदेशों द्वारा उसकी रक्षा की। उन्होंने लोगों को समझाया कि ईश्वर एक है। सब धर्म अपने-अपने मार्ग से मनुष्य को उसी के समीप पहुँचाते हैं। धर्म का असली सार बाह्य पूजा, कर्मकांड और परंपरायें नहीं हैं, वरन् उसका वास्तविक तत्त्व है, अपने आप को जीतना; इंद्रियों को वश में रखना सुख-दुःख, हानि-लाभ में एक सा भाव रखना धर्म का सबसे बड़ा लक्षण है। सबके साथ सेवा, नेकी और सच्चाई का व्यवहार करना और इन सब के साथ-साथ भगवान् को याद करते रहना। हम नहीं समझते कि कोई भी धर्म इसे अमान्य कर सकता है। गुरु नानक के उपदेशों का ही नहीं वरन् सभी शास्त्रों का यही सार है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।